

परिशिष्ट-3 : रंगमंच

हिन्दी रंगमंच की शुरुआत पारसी रंगमंच से हुई, इसका उल्लेख किया जा चुका है। इसके नाटक और मंच अतिरंजनापूर्ण और 'मेलोड्रामेटिक' होते थे। पाठकों को चमत्कृत करना उनका चरम उद्देश्य होता था। नाटकों में दृश्यों की बहुलता, गीतात्मक संवाद, गीतों की भरमार, नृत्य योजना आदि का नियोजन दर्शकों के अनुरूप होता था। अलग-अलग कंपनी के अपने अभिनेता थे। उनकी भूमिकाओं को दृष्टि में रखकर ही नाटक लिखे जाते थे।

यद्यपि अपने परवर्ती काल में पारसी रंगमंच बदलने लगा था, फिर भी उसकी सपाटता और कुचिपूर्णता नहीं जा सकी। भारतेंतु तथा उनके युग के रंगमंच पारसी रंगमंच की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप आया।

अपने 'नाटक' में अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा है—“काशी में पारसी नाटक वालों ने नाचघर में जब शकुन्तला नाटक खेला और उसमें धीरोदात्त नायक दुष्यन्त खेमटेवालियों की तरह कमर पर हाथ रखकर मटक-मटककर नाचने और 'पतरी कमर बल खाय' यह गाने लगा तो डॉ० धिबो, बाबू प्रमदा दास मित्र यह कहकर उठ आये कि अब देखा नहीं जाता। ये लोग कालिदास के गले पर छुरी फेर रहे हैं।” सन् 1903 में 'हिन्दी प्रदीप' के सम्पादकीय में पारसी थियेटर की कड़ी आलोचना की गई। 'राम-वनगमन' (1910) की भूमिका में इसकी ओर संकेत करते हुए लिखा गया है—“पारसी लोग जो हिन्दू सम्बन्धी नाटक खेलते हैं, उसकी भाषा प्रायः उर्दू होती है व भाव भी प्रायः हिन्दुओं के विरुद्ध ही होता है।”

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय में ही कानपुर में कुछ नाट्य-मंडलियाँ स्थापित हुईं पर वे अकाल में ही काल के गाल में समा गईं। सन् 1898 ई० में प्रयाग में 'रामलीला नाटक मण्डली' स्थापित की गई। 1908 ई० में माधव शुक्ल ने इसका पुनरुद्धार किया। इस मंडली ने 'राणा प्रताप' और माधव शुक्ल का 'महाभारत' आदि नाटकों को सफलतापूर्वक रंगमंच पर उतारा।

इस सम्बन्ध में काशी की नाट्य-मण्डलियों का विशेष महत्त्व है, क्योंकि [ये अन्य मण्डलियों की अपेक्षा अधिक काल तक जीवित रहीं। यों हिन्दी में नाटक खेलने की शुरुआत काशी में ही हुई। शीतला प्रसाद त्रिपाठी कृत 'जानकी मंगल' सन् 1868 ई० में खेला गया। इसमें भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने लक्ष्मण की भूमिका निभाई थी। सन् 1908 ई० में स्थानीय हिन्दू स्कूल में राधाकृष्ण दास का 'राणा प्रताप' खेला गया। उस नाटक को देखने के लिए काशी के प्रसिद्ध नगर सेठ बीसूजी के पोत्र बाबू कृष्णदास साह भी गए हुए

थे। बाबू कृष्णदास उस नाटक से इतने अधिक प्रभावित हुए कि दूसरे दिन हरिदास माणिक और धर्मदत्त शास्त्री को बुलाकर 'राणा प्रताप' के अभिनय के सम्बन्ध में उनसे परामर्श किया। उनका विचार था कि उसका अभिनय कहीं शहर में किया जाय। अर्थाभाव के कारण उन्होंने इसके अभिनय में असमर्थता व्यक्त की। फिर इस सम्बन्ध में काशी के श्रीमन्तों की एक सभा बुलाई गई और एक नाट्य-मंडली की स्थापना की गई। इसका नाम रखा गया 'नागरी नाट्य-कला प्रवर्तक मंडली'। इसके नाम पर 'नागरी प्रचारिणी सभा' के नाम का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। 'नाट्य-कला प्रवर्तक' का कदाचित् अभिप्राय यह था कि पारसी नाट्य-कला से दूषित अभिनेयता का प्रवर्तन। बाद में पारस्परिक मतभेद के कारण यह मंडली दो मंडलियों में विभाजित हो गई—नागरी नाटक मंडली और भारतेन्दु नाटक मंडली। नागरी नाटक मंडली ने पं० सुधाकर द्विवेदी की देख-रेख में कार्य करना आरम्भ किया। कृष्णगढ़-नरेश की सहायता से इस मण्डली ने कबीर चौरा में एक रंगमंच का निर्माण भी किया है, समय-समय पर यह मण्डली कोई-न-कोई नाटक खेलती रहती है।

अब आइए इस बात का लेखा-जोखा लगा लें कि इन अव्यवसायी नाट्य-मण्डलियों ने कितना पारसी रंगमंच को छोड़ा और कितना नए मंच के निर्माण में अपना जोड़ा। पारसी थियेटर की अतिरंजनाओं को—भड़कीली साज-सज्जा, बात-वात में नृत्य-गान, हाव-भाव आदि को इन अव्यवसायी मण्डलियों ने आंशिक रूप में छोड़ दिया। एक नई सांस्कृतिक रुचि के निर्माण के लिए ऐसा करना आवश्यक भी था। पारसी रंगमंच की विरासत को सहसा छोड़ देना न तो इन मण्डलियों के हित में होता और न जनता के ही हित में। जनता पारसी रंगमंच की इतनी अधिक अभ्यस्त हो चुकी थी कि उसकी चित्तवृत्ति को दूसरी दिशा में क्रमशः ही मोड़ा जा सकता था। इन अव्यवसायी मण्डलियों के पास इतना धन भी न था कि अपने पैसे से बराबर नाटक खेलती रहतीं। नाटक खेलने में जो व्यय होता था उसका कुछ अंश उन्हें दर्शकों से भी प्राप्त करना होता था। ऐसी स्थिति में पारसी थिएटर कम्पनियों की नाट्य-परम्परा से सर्वथा अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लेना इनके लिए सम्भव न था।

पारसी थिएटर के बाह्य उपकरणों को अंशों में ग्रहण करते हुए भी इस नाटकों की आत्मा उससे भिन्न थी। विषय-वस्तु के चुनाव तथा उसके प्रतिपादन के ढंग में अव्यवसायी मण्डलियों ने जो दृष्टिकोण अपनाया, वह गम्भीर और स्वस्थ था। उर्दू की शोखी और बाजारू गानों के लिए वहाँ कोई स्थान नहीं था। इनका हास्य भी मर्यादित और संयमपूर्ण था। इन मण्डलियों द्वारा जो सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य हुआ, वह था परिष्कृत रुचि का निर्माण।

इन अव्यवसायिक मण्डलियों के समाप्तप्राय हो जाने पर स्कूल और कॉलेज के रंगमंचों पर नाटक खेले जाने लगे। पर डेढ़ दिन चलने वाले इन रंगमंचों से कोई स्थायी लाभ नहीं हो सकता था। फिर भी हिन्दी रंगमंच को ज़िन्दा बनाए रखने का श्रेय इनको दिया जा सकता है। स्कूल-कॉलेज के वार्षिकोत्सवों के अवसर पर खेले जाने वाले नाटकों में मंचीय प्रौढ़ता नहीं आ पाई। इन नाटकों के आयोजकों को रंग-शिल्प के अधुनातन

उपकरणों का ठीक-ठीक पता नहीं रहता और न तो वे इस दिशा में प्रयास ही करते हैं। ध्वनि-प्रभाव, पार्श्व-संगीत, प्रकाश-परिवर्तन, दृश्य-बंध आदि की योजना चलते ढंग से कर दी जाती है। इसके फलस्वरूप नाटकों में अपेक्षित प्रभावान्वित नहीं आ पाती है।

हिन्दी रंगमंच की चर्चा तब तक अधूरी समझी जायेगी जब तक 'इण्टा' और 'पृथ्वी-थियेटर' की देन का आकलन न कर लिया जाय। इण्टा अव्यवसायी संस्था है। इसके निःस्वार्थ कर्मी सदस्यों ने खुले थियेटर (ओपन एअर थियेटर) का बड़ा ही सफल प्रयोग किया है। इस रंगमंच पर खेले गए नाटकों को काफी लोकप्रियता भी मिली है। किन्तु अपने सीमित साधनों के फलस्वरूप इसका अपेक्षित प्रसार-प्रचार न हो सका।

प्रसिद्ध अभिनेता पृथ्वीराज कपूर ने 'पृथ्वी थियेटर' के माध्यम से हिन्दी को एक रंगमंच देने का प्रयास किया है। यद्यपि एक प्रकार से यह व्यावसायिक संस्था थी तथापि पृथ्वीराज को इसके लिए कम त्याग नहीं करना पड़ा। घाटा सहकर भी अपनी पक्की धुन और मिशनरी लगन के कारण वे अपने कार्य से विरत नहीं हुए। उनका रंगमंच चलता-फिरता रंगमंच था। देश के विभिन्न भागों का दौरा करके उन्होंने अपने नाटकों का प्रदर्शन किया। उन्होंने केवल चार नाटकों को—पठान, दीवार, गद्दार और कलाकार को—रंगमंच पर उतारा। देश भर में लोगों ने उनकी मुक्तकंठ से प्रशंसा की। सवाक चित्रपटों की अपेक्षा इन नाटकों में जो स्वाभाविकता, सरलता और अयान्विकता थी उसकी जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। अपने अभिनय से पृथ्वीराज ने उन्हें और भी चमका दिया था। पृथ्वीराज की वह कला जो चित्रपटों की सीमाओं के कारण बहुत कुछ संकुचित हो गई थी, थियेटर के रंगमंचों पर अपनी पूरी ऊर्जस्विता में प्रकट हुई। 'पठान' में एक ही दृश्य-बंध (सैटिंग) थी। इसी पर पूरा नाटक अभिनीत होता था। इस दृश्य-बंध पर गद्दी का अहाता था, इसमें सामने की ओर बुर्ज पर चढ़कर शत्रुपक्ष की गति-विधियों का निरीक्षण किया जाता था। दाईं ओर बाईं ओर एक-एक दरवाजे थे। बाईं ओर का दरवाजा अन्तःपुर से सम्बद्ध था और दाईं ओर का दरवाजा गली में खुलता था। गद्दी के इस दृश्य-बंध (सैटिंग) पर खाँ साहब की युवावस्था से वृद्धावस्था तक की सारी क्रियाओं का अभिनय किया जाता था। अपने नाटकों में उन्होंने नृत्य का विधान तो किया पर संगीत उड़ा दिया था। नृत्य और संगीत भारतीय जीवन से इस प्रकार बँधे हुए हैं कि इनमें किनारा करना स्वाभाविक नहीं है। यथार्थवाद के नाम पर इनका गला घोटना अपनी परम्परा से अपरिचित होने का सबूत देना है। पर 'पृथ्वी थियेटर' की सबसे बड़ी कमजोरी रही पृथ्वीराज के व्यक्तित्व की महाप्राणता। यदि पृथ्वीराज के व्यक्तित्व को अलग करके देखा जाय तो इस रंगमंच की सारी कला-व्यवस्था बहुत कुछ निष्प्राण और महत्त्वहीन प्रतीत होने लगती है।

हिन्दी रंगमंच की स्थापना के लिए इधर जो सरकारी प्रयत्न हुए हैं उनका उल्लेख इसलिए भी आवश्यक है कि उनसे कुछ खास हाथ नहीं लग सका। उत्तर प्रदेशीय सरकार ने काशी में रंगमंच स्थापित करने का निश्चय किया था। 'नटराज' के रूप में उसे जन्म देने का प्रयास भी किया गया। इसके तत्त्वावधान में दो नाटक खेले भी गए पर उनको औसत से कम सफलता मिली। 'नटराज' का मुख्य ध्येय था एक स्थायी

रंगमंच की स्थापना, पर आज तो 'नटराज' का स्वयं पता नहीं है।

दिल्ली की 'संगीत नाटक अकादमी' की ओर लोगों की आशाभरी दृष्टि लगी रही है पर उसने रंगमंच की स्थापना के लिए क्या कदम उठाया ? इसके लिए कौन-सी योजना बनाई ? इनका उत्तर केवल नकारात्मक ही होगा। यदि वह इस दिशा में ध्यान देती और पहले कुछ नगरों और गाँवों में अस्थायी रंगमंच ही स्थापित कर देती तो भी रंगमंच की रूपरेखा कुछ स्पष्ट हो पाती।

परिशिष्ट-2 : रेडियो-नाटक

प्रारम्भ में जिस प्रकार कहानियों को उपन्यासों का लघु रूप कहा जाता था, एकांकी को नाटकों का संक्षिप्त रूप माना जाता था, उसी प्रकार रेडियो-नाटक (ध्वनि-एकांकी) को रंग-एकांकी का भाई-बन्धु स्वीकृत किया जाता था। कालान्तर में जब कहानियों और एकांकियों ने शैलीगत विकास कर लिया तो लोगों को अपनी धारणाएँ बदलनी पड़ीं। वे यह कहते हुए देखे गए कि कहानी और उपन्यास की अलग-अलग जातियाँ हैं, नाटक और एकांकी दो भिन्न-भिन्न रचना-प्रकार हैं। आज रेडियो-नाटक के विकसित शिल्प ने यह सिद्ध कर दिया कि रंग-एकांकी और रेडियो-नाटक दो असमान विधाएँ हैं, सादृश्य के स्थान पर उनमें असादृश्य अधिक है।

रेडियो-नाटक और एकांकी

संस्कृत के आचार्यों ने काव्य का दो कोटियों में विभाजित किया—दृश्य काव्य और श्रव्य काव्य। दृश्य काव्य को उन्होंने रूपक की अभिधा दी। पर रेडियो-नाट्य-शिल्प के कारण रूपक या नाटक को भी दो श्रेणियों में बाँटना पड़ेगा—दृश्य नाटक और श्रव्य नाटक।

रेडियो पर प्रसारित होने वाले नाटकों के सभी प्रकार पिछली श्रेणी में रखे जायेंगे। एकांकी और रेडियो नाटक की मुख्य विभाजन-रेखा यही है कि पहला दृश्य है और दूसरा श्रव्य। फिर भी रेडियो नाटक श्रव्य होकर भी नाटक ही है। हाँ, जहाँ एकांकी का माध्यम रंगमंच है वहाँ रेडियो-नाटक का माध्यम ध्वनि।

इस माध्यम की भिन्नता के कारण दोनों की अपनी अलग-अलग सुविधाएँ-असुविधाएँ हैं।

रंगमंच पर अभिनेताओं में रूप, वाणी, मुद्रा, भंगिमाएँ आदि के साक्षात्कार से जो सामूहिक प्रभाव निष्पन्न होता है, केवल ध्वनि के माध्यम से उसकी उपलब्धि नहीं हो सकती। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि रेडियो-नाटक एकांकी से हीन नाट्य-विधान है। रेडियो-नाटकों को रंगमंच सुविधा तो नहीं है पर कई अर्थों में एकांकी नाटकों की अपेक्षा वह अपने शिल्प के कारण अनेक और सुविधाओं को अपनी गहनता में समेट लेता है।

विषय की दृष्टि से जितने व्यापक विषय को रेडियो-नाटकों में प्रस्तुत किया जा सकता है उतने व्यापक विषय को एकांकियों में नहीं उपस्थित किया जा सकता है। एकांकियों के बंधन रेडियो-नाटकों को स्वीकार नहीं हैं। संकलन-त्रय के लिए रेडियो-

नाटकों में कोई स्थान नहीं है। आश्चर्य तो यह है कि एकांकियों के कतिपय बाधक तत्त्व इसके लिए साधक सिद्ध हुए हैं। आलोचकों ने नाटकों और एकांकियों से बेचारे 'स्वगत' को लगभग बहिष्कृत कर दिया है। पर रेडियो-नाटकों में जाकर जैसे इसे अपना उचित स्थान मिल गया। स्वप्न, विक्षेपावस्था आदि को नाटकों, एकांकियों में प्रदर्शित नहीं किया जा सकता है। वातावरण-निर्माण में तो रेडियो-नाटक ने एकांकियों को बुरी तरह पछाड़ दिया है। प्लेटफार्म की भीड़-भाड़, फेरी वालों के शोरगुल, कुली के पुकारने की आवाज, यात्रियों की चीख-पुकार, कनाडियन इंजनों के भोंपू आदि को रेडियो-नाटकों में बड़े ही प्रभावोत्पादक ढंग से प्रस्तुत किया जा सकता है। एकांकियों में दूसरे स्थान की महत्त्वपूर्ण घटनाओं को, जो नाटकीय कथानक से अच्छी तरह संबद्ध हैं, केवल सूचित किया जा सकता है। पर रेडियो नाटकों में उन्हें उपस्थित करने में कोई कठिनाई नहीं है।

इस तरह रेडियो-नाटकों ने संस्कृत नाट्य-शास्त्र के अर्थोपक्षेपकों—विष्कम्भक, चूलिका अंकास्य, अंकावतार और प्रवेशक—के झंझट से भी अपने को मुक्त कर लिया है।

शिल्प-वैशिष्ट्य

रेडियो-नाट्य-शिल्प को ध्वनि-शिल्प भी कहा जा सकता है। सम्पूर्ण नाटक का नियंत्रण तीन प्रकार की ध्वनियों से होता है—शब्द-ध्वनि, वाद्य-ध्वनि और प्रभाव-ध्वनि (sound-effect)। शब्द-ध्वनि के माध्यम से संवादों को श्रोता तक पहुँचाया जाता है, वाद्य-ध्वनि से दृश्य-परिवर्तन के अतिरिक्त अपूर्ण कथा को पूर्ण और पात्रों के आगमन और निष्क्रमण को संकेतिक किया जाता है और प्रभाव-ध्वनि का मुख्य प्रयोजन वातावरण का निर्माण करना है।

शब्द-ध्वनि रेडियो-नाट्य का प्राणतत्त्व है, इसलिए नाटककार को शब्द-ध्वनि की पूरी परख होनी चाहिए। उसे इस बात की जानकारी होनी चाहिए कि श्रोतव्य अर्थपूर्ण होने के साथ-साथ श्रुति-सुखद, सहज-प्राप्त और प्रभावोत्पादक हो। सामान्यतः संवाद के वाक्य लम्बे न हों तो अच्छा है क्योंकि उसे संभालने में प्रसारक के श्वासावरोध की आशंका है और इससे ध्वनि की प्रभावोत्पादकता के बिखर जाने का भी भय बना रहता है।

संवादों का स्वर सामान्य (Normal tone) होना चाहिए। नाटकों में रंगमंच पर अभिनेता के सम्मुख दर्शकों का समुदाय होता है। इसलिए उनके स्वर में कुछ तेजी भी दिखाई पड़ सकती है, क्योंकि बात तो करता है वह अपने साथी अभिनेता से, पर उसका अभिप्राय होता है उसे दर्शकों तक पहुँचाना। रेडियो-नाटक के कलाकारों के सामने समूह नहीं, व्यक्ति होता है। फिर माइक के अत्यधिक स्वरग्राही (Sensitive) होने के कारण अपनी फुमफुसाहट तक को श्रोताओं तक पहुँचा सकने में वह समर्थ है।

संवादों की ध्वनियों द्वारा चरित्रों का चारित्रिक वैशिष्ट्य अंकित किया जाता है। कुशल नाटककार ध्वनि में प्रतीकत्व का समाहार भी करता है, जिससे चरित्रगत

विशेषताओं को स्पष्ट करने में अधिक सुविधा मिलती है। पात्रों का स्वर-वैभिन्न्य रेडियो-नाटक की सफलता के लिए बहुत आवश्यक है अन्यथा उसमें एकरागीता आ जायेगी। नाटककार को भिन्न-भिन्न चरित्रों की भाषा-शैली में इस तरह का पार्थक्य रखना चाहिए कि प्रत्येक पात्र की टोन, लय, ध्वनि दूसरे से थोड़ी-बहुत भिन्न हो जाय।

वाद्य-ध्वनि से तात्पर्य है वाद्य-संगीत का। दृश्य-परिवर्तन के समय संक्षिप्त वाद्य-ध्वनि प्रस्तुत की जाती है। प्रभाव-ध्वनि का मुख्य प्रयोजन वातावरण-निर्माण होता है। पीछे इसका उल्लेख किया जा चुका है। नाटककार को इस बात का बराबर ध्यान रखना चाहिए कि कहीं वाद्य-ध्वनि और प्रभाव-ध्वनि स्वयं साध्य न हो जायें।

प्रकार

शिल्पी की दृष्टि से रेडियो-नाटक के प्रकार हैं—नाटक, रूपक, फैंटेसी, रेडियो-रूपांतर, मोनोलॉग, संगीत-रूपक और झलकियाँ।

रेडियो-नाटक रंगमंचीय नाटकों की अपेक्षा कहीं अधिक मूक्षमतर तत्त्वों और जीवन-मर्मों को अपना वर्ग्य विषय बनाता है। जिस प्रकार एकांकी के रंगमंचीय उपकरण एक विशेष जीवन-मर्म को व्यञ्जित करने के लिए ही गृहीत होते हैं उसी प्रकार रेडियो के समस्त उपकरण—ध्वनि, संगीत आदि—भी मूक्षमतर जीवन-मर्मों को व्यञ्जित करने के साधन हैं। नाटक (रेडियो-नाटक) अन्य प्रकारों की अपेक्षा एकांकी के निकट है। रेडियो-रूपक-रेडियो फीचर का अनुवाद है। इसका क्षेत्र बहुत व्यापक है। नाटक की भाँति इसका कोई रूप नहीं स्थिर किया जा सकता। विषयानुसार यह अपना रूप बदलता रहता है। इसके माध्यम से सूचना, प्रसार आदि को रोचक ढंग से प्रस्तुत किया जाता है। फैंटेसी एक अतिशय कल्पना-प्रधान नाटक ही है। मोनोलॉग या एक-पात्री-नाटक में आद्यन्त एक ऐसा पात्र बोलता है जो अनेक प्रकार के अन्तर्द्वन्द्वों में उलझा हुआ हो। झलकियों में भिन्न-भिन्न लघु-लघु विनोदात्मक दृश्य प्रस्तुत किये जाते हैं। इनका प्रयोजन श्रोताओं का मनोरंजन करना है। संगीत-रूपक में रूपक संगीत और लयात्मक गीत के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। रेडियो-रूपान्तर में कहानी, रंग-एकांकी, उपन्यास आदि को इस तरह रूपान्तरित किया जाता है कि उन्हें रेडियो के माध्यम से नाटकीय ढंग से प्रसारित किया जा सके।

हिन्दी के रेडियो-नाटक

हिन्दी रेडियो-नाटक अपने विकास की दो अवस्थाएँ पार कर चुका है। पहली अवस्था में तो पूरे रंगमंचीय नाटक रंगमंच की सारी स्थूलताओं के साथ प्रसारित होते थे। 1936 ई० में पहला हिन्दी रेडियो-नाटक ऑल इण्डिया रेडियो से प्रसारित हुआ जिसमें रंग-संकेत, दृश्यान्तर, अन्तराल सब-के-सब रंगमंचीय ढंग के थे। चतुरसेन शास्त्री का 'राधाकृष्ण' रेडियो के लिए लिखा गया पहला नाटक माना जाता है। रंग-एकांकी के आविर्भाव के साथ ही रेडियो-नाटकों में भी नया मोड़ आया और ये एकांकी रेडियो पर प्रसारित होने लगे। माइक के माध्यम से रंग-एकांकियों को प्रसारित करने

में जब कठिनाई का अनुभव हुआ तो ऐसे एकांकियों की रचना की जाने लगी जो रंगमंच पर सफलतापूर्वक अभिनीत भी हो सकें और रेडियो से प्रसारित भी। रामकुमार वर्मा और अश्व ने इस तरह के कई नाटक लिखे। यह रेडियो-नाटक के विकास की दूसरी अवस्था है। आज रेडियो-नाटक रंग-नाटक से बिलकुल पृथक् हो गया है। आज के रेडियो-नाटक टेक्नीक को देखते हुए यदि द्वितीय अवस्था के नाटकों की समीक्षा की जाय तो वे सामान्यतः असफल सिद्ध होंगे।

आज कुछ ऐसे लेखक भी दिखाई देने लगे हैं जो केवल रेडियो के लिए ही नाटक लिखने लगे हैं। विष्णु प्रभाकर ने अपनी पुस्तक 'प्रकाश और परछाई' में लिखा है— "तो हमने तीन बातें कहीं। एक यह कि रेडियो और रंगमंच के लिए अलग-अलग लिखें....." इस पुस्तक में सब-के-सब रेडियो-नाट्य संगृहीत हैं। नए माध्यम की बारीकी को समझने का प्रयास विष्णु ने बराबर किया है। परिणामस्वरूप उनके रेडियो-नाटकों में बराबर निखार आता गया है। रेडियो से संबद्ध होने के कारण भी उन्हें इस नए माध्यम की संभावनाओं का निकट से अध्ययन करने का अवसर मिला है। उक्त संग्रह में 'लिपिस्टिक की मुस्कान' और 'युग-संधि' में ध्वनि-परिवर्तन और संवेगात्मकता का पूरा ध्यान रखा गया है। इसलिए ये नाटक काफी सफल हुए हैं। इस संग्रह का पहला नाटक 'सीमा-रेखा' राजनीतिक वाद-विवाद का रूप धारण कर लेने के कारण भावात्मकता का स्पर्श करने में बहुत कुछ असमर्थ हो गया है। विष्णु प्रभाकर के अतिरिक्त हरिश्चन्द्र खन्ना, सिद्धनाथ कुमार, रेवती शरण शर्मा आदि ने भी रेडियो-नाटक के टेक्नीक की दृष्टि से अनेक अच्छे नाटक लिखे हैं।

रेडियो में न रहकर भी अश्व ने श्रव्य-माध्यम से कुछ ऐसे नाटक भी लिखे हैं जो रेडियो पर सफलतापूर्वक प्रसारित किए जा चुके हैं। 'छठा बेटा', 'पर्दा उठाओ : पर्दा गिराओ' ऐसे ही नाटक हैं। अश्व की सफलता का सर्वाधिक श्रेय इनके तीखे व्यंग्यों और चुस्त संवादों को है। अमृतलाल नागर ने इस दिशा में सीमित पर स्तुत्य प्रयास किया है। उनका 'सैठ बाकिमल' अनेक बार प्रसारित हो चुका है। अमृतलाल नागर अपनी पंजी में बेजोड़ है। उनका व्यंग्य इतना तीखा और मर्मस्पर्शी होता है कि समाज के विगलित अंगों पर कड़ी चोट करता है। रेडियो-नाटकों के क्षेत्र में उनकी सफलता असंदिग्ध है।

रेडियो पर प्रायः वे ही गीति-नाट्य प्रसारित किए गए हैं जिनका उल्लेख गीति-नाट्यों के प्रसंग में एक अलग अध्याय में किया जा चुका है। उनमें से अधिकांश नाटक अनाकर्षक ही रहे हैं। किसी में काव्यत्व की अतिशयता है तो किसी में उसकी नितांत कमी। नाटकत्व तो बहुत कम नाटकों में है। गीति-नाट्यों के लिए रेडियो-मंच में अनेक संभावनाएँ निहित हैं। गीति-नाट्यों में अन्तर्निहित अन्तर्द्वन्द्वों को—सूक्ष्माति-सूक्ष्म अन्तर्द्वन्द्वों को—ध्वनि, ध्वनि-प्रभाव, वाद्य-संगीत आदि के सहारे बड़ी ही कुशलता से प्रसारित किया जा सकता है।

अतिकल्पनाओं (फैंटेसीज) के लिए भी रेडियो का माध्यम अत्यन्त उपयुक्त है। पर गीति-नाट्यों की भाँति अतिकल्पनाएँ भी बहुत कम लिखी गई हैं। इसके लिए तो

रेडियो ही एकमात्र शरण भूमि है, क्योंकि रंगमंच से इसका कोई मेल नहीं बैठता। इस प्रकार के नाटक लिखने वालों में गिरिजाकुमार माथुर, सिद्धनाथ कुमार और रामचन्द्र तिवारी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

मोनोलॉग या एकपात्री नाटक तो संख्या में और भी कम लिखे गए हैं। मोनोलॉग में एक से अधिक भावनाओं का द्वन्द्व चित्रित किया जाता है। इन भावनाओं में प्रायः परस्पर विरोध दिखाई पड़ता है। इस प्रकार के नाट्य-लेखकों में विष्णु प्रभाकर और कर्तार सिंह दुग्गल का नाम लिया जा सकता है।

पुराने लेखकों में रामकुमार वर्मा, उदयशंकर भट्ट, लक्ष्मीनारायण मिश्र, जगदीशचन्द्र माथुर आदि ने भी रेडियो पर प्रसारित होने वाले नाटकों की रचना की है।

सच पूछिए तो हिन्दी रेडियो-नाटक अभी प्रारम्भिक अवस्था में है। इसकी अपेक्षित प्रगति में जो कमी दिखाई पड़ रही है उसके तीन प्रमुख कारण हैं। एक तो रेडियो की दृष्टि से नाटक लिखने वालों की बहुत कमी है, दूसरा यह कि रेडियो-नाट्य की टेक्नीक से लोग कम परिचित हो सके हैं, तीसरा यह कि ऑल इंडिया रेडियो ने बी० बी० सी० की तरह अभी तक इसके लिए स्वतन्त्र विभाग नहीं खोल रखा है।

फिर भी रेडियो माध्यम की संभावनाओं को देखते हुए हम निराश नहीं हैं। धीरे-धीरे इस दिशा में हम अग्रसर हो रहे हैं, इस नए माध्यम की शक्ति पहचान रहे हैं, इसके टेक्नीक का अभ्यास कर रहे हैं, विदेशी रेडियो से बहुत कुछ सीख रहे हैं। ऐसी स्थिति में वह दिन दूर नहीं है जब हमारे रेडियो स्टेशन अनेक प्रकार के श्रेष्ठ रेडियो-नाटकों से हमारा मनोरंजन करने में समर्थ हो सकेंगे।